वीतराग–विज्ञान पाठमाला भाग ३

(श्री वीतराग–विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड द्वारा निर्धारित)

सम्पादक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पी.एच.डी.
संयुक्तमंत्री, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

प्रकाशक :

मगनमल सौभागमल पाटनी फैंमिली चैरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई

एवं

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए–४, बापूनगर, जयपुर ३०२०१५ (राज.)

हिन्दी :

प्रथम ग्यारह संस्करण (१९६९ से अद्यतन)	:	६२ हजार ६००
बारहवाँ संस्करण (१२ जुलाई, २००६)	:	३ हजार
योग	:	**६५ हजार ६००**

अंग्रेजी :

प्रथम दो संस्करण : ७ हजार

गुजराती :

प्रथम दो संस्करण : ८ हजार २००

मराठी :

प्रथम दो संस्करण : ५ हजार २००

महायोग : ८६ हजार

मूल्य : चार रुपए

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम,
जयपुर

विषय–सूची

क्र.	नाम पाठ	पृष्ठ
१.	सिद्धपूजन	१
२.	पूजा–विधि और फल	६
३.	उपयोग	८
४.	अगृहीत और गृहीत मिथ्यात्व	१२
५.	मैं कौन हूँ?	१६
६.	ज्ञानी श्रावक के बारह व्रत	१९
७.	मुक्ति का मार्ग	२४
८.	निश्चय और व्यवहार	३०
९.	दशलक्षण महापर्व	३६
१०.	बलभद्र राम	४०
११.	समयसार स्तुति	४४

पाठ १

सिद्ध पूजन

स्थापना

चिदानन्द [१] स्वातमरसी,[२] सत्[३] शिव [४] सुन्दर [५] जान।
ज्ञाता दृष्टा लोक के, परम सिद्ध भगवान।।

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपते ! सिद्धपरमेष्ठिन् ! अत्र अवतर अवतर संवौषट्। अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ: ठ: । अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्।

जल

ज्यों–ज्यों प्रभुवर जल पान किया, त्यों–त्यों तृष्णा की आग जली।
थी आश कि प्यास बुझेगी अब, पर यह सब मृगतृष्णा निकली।।
आशा–तृष्णा से जला हृदय, जल लेकर चरणों में आया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया।।

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा।

चन्दन

तन का उपचार किया अबतक, उस पर चन्दन का लेप किया।
मल–मल कर खूब नहा करके, तन के मल का विक्षेप किया।।
अब आतम के उपचार हेतु, तुमको चन्दनसम है पाया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया।।

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने संसारतापविनाशनाय चन्दनं नि.।

---

१. ज्ञानानन्द स्वभावी २. अपने आत्मा में लीन रहनेवाले ३. सत्ता स्वरूप
४. कल्याणमयी ५. त्रैकालिक शुद्धस्वभावी।

अक्षत

सचमुच तुम अक्षत हो प्रभुवर, तुम ही अखण्ड अविनाशी हो।
तुम निराकार अविचल निर्मल, स्वाधीन सफल संन्यासी हो।।
ले शालिकणों का अवलम्बन, अक्षयपद ! तुमको अपनाया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया।।
ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् नि.।

पुष्प

जो शत्रु जगत का प्रबल काम, तुमने प्रभुवर उसको जीता।
हो हार जगत के वैरी की, क्यों नहिं आनन्द बढ़े सब का।।
प्रमुदित मन विकसित सुमन नाथ, मनसिज[१] को ठुकराने आया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया।।
ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं नि.।

नैवेद्य

मैं समझ रहा था अबतक प्रभु, भोजन से जीवन चलता है।
भोजन बिन नरकों में जीवन, भरपेट मनुज क्यों मरता है।।
तुम भोजन बिन अक्षय सुखमय, यह समझ त्यागने हूँ आया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया।।
ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं नि.।

दीप

आलोक[२] ज्ञान का कारण है, इन्द्रिय से ज्ञान उपजता है।
यह मान रहा था, पर क्यों कर, जड़ चेतन सर्जन[३] करता है।।*
मेरा स्वभाव है ज्ञानमयी, यह भेदज्ञान पा हरषाया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया।।
ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने मोहांधकारविनाशनाय दीपं नि.।

१. कामदेव २. प्रकाश ३. उत्पन्न करना।
* कुछ मत वाले प्रकाश को ज्ञान का कारण और इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं; पर प्रकाश और इन्द्रियाँ अचेतन हैं, उनसे चेतन ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

धूप

मेरा स्वभाव चेतनमय है, इसमें जड़ की कुछ गंध नहीं।
मैं हूँ अखण्ड चिद्पिण्ड चण्ड[१], पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं।।
यह धूप नहीं, जड़-कर्मों की रज, आज उड़ाने मैं आया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया।।
ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने अष्टकर्मदहनाय धूपं नि.।

फल

शुभ कर्मों का फल विषय-भोग, भोगों में मानस रमा रहा।
नित नई लालसायें जागीं, तन्मय हो उनमें समा रहा।।
रागादि विभाव किए जितने, आकुलता उनका फल पाया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया।।
ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने मोक्षफलप्राप्तये फलं नि.।

अर्घ्य

जल पिया और चन्दन चरचा, मालायें सुरभित सुमनों की।
पहनीं तन्दुल सेये व्यंजन, दीपावलियाँ की रत्नों की।।
सुरभि[२] धूपायन की फैली, शुभकर्मों का सब फल पाया।
आकुलता फिर भी बनी रही, क्या कारण जान नहीं पाया।।
जब दृष्टि पड़ी प्रभुजी तुम पर, मुझको स्वभाव का भान हुआ।
सुख नहीं विषय-भोगों में है, तुमको लख यह सद्ज्ञान हुआ।।
जल से फल तक का वैभव यह, मैं आज त्यागने हूँ आया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया।।
ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं नि.।

१. तेजस्वी २. सुगन्ध

जयमाला

दोहा

आलोकित हो लोक में, प्रभु परमात्मप्रकाश।
आनन्दामृत पानकर, मिटे सभी की प्यास।।

पद्धरि छन्द

जय ज्ञानमात्र ज्ञायक-स्वरूप, तुम हो अनन्त चैतन्य-रूप।
तुम हो अखण्ड आनन्द-पिण्ड, मोहारि[१] दलन[२] को तुम प्रचण्ड।।
रागादि विकारीभाव जार[३], तुम हुए निरामय[४] निर्विकार।
निर्द्वन्द्व निराकुल निराधार, निर्मम[५] निर्मल हो निराकार।।
नित करत रहत आनन्दरास, स्वाभाविक परिणति में विलास।
प्रभु शिवरमणी के हृदयहार, नित करत रहत निज में विहार।।
प्रभु भवदधि[६] यह गहरो अपार, बहते जाते सब निराधार।
निज परिणति का सत्यार्थभान, शिव-पद दाता जो तत्त्वज्ञान।।
पाया नहिं मैं उसको पिछान[७], उलटा ही मैंने लिया मान।
*चेतन को जड़मय लिया जान, तन में अपनापा लिया मान।।
शुभ-अशुभ राग जो दुःख-खान, उसमें माना आनन्द महान।
प्रभु अशुभकर्म को मान हेय, माना पर शुभ को उपादेय।।
जो धर्म-ध्यान आनन्द-रूप, उसको माना मैं दुःख-स्वरूप।
मनवांछित चाहे नित्य भोग, उनको ही माना है मनोग।।
इच्छा-निरोध की नहीं चाह, कैसे मिटता भव विषय-दाह।
आकुलतामय संसार-सुख, जो निश्चय से है महादुःख।।

१. मोहरूपी शत्रु २. नाश करना ३. जलाकर ४. निरोग
५. ममतारहित ६. संसार-सागर ७. पहचान।
* यहाँ से आठ पंक्तियों में सात तत्त्व सम्बन्धी भूलों की ओर संकेत किया गया है।

उसकी ही निश-दिन करी आस, कैसे कटता संसारपास[१]।
भव-दुःख का पर को हेतु जान, पर से ही सुख को लिया मान।।
मैं दान दिया अभिमान ठान, उसके फल पर नहिं दिया ध्यान।
पूजा कीनी वरदान माँग, कैसे मिटता संसार-स्वाँग।।
तेरा स्वरूप लख प्रभु आज, हो गये सफल संपूर्ण काज।
मो उर प्रकट्यो प्रभु भेदज्ञान, मैंने तुम को लीना[२] पिछान।।
तुम पर के कर्त्ता नहीं नाथ, ज्ञाता हो सब के एक साथ।
तुम भक्तों को कुछ नहीं देत, अपने समान बस बना लेत।।
यह मैंने तेरी सुनी आन, जो लेवे तुमको बस पिछान।
वह पाता है केवल्यज्ञान, होता परिपूर्ण कला-निधान।।
विपदामय पर-पद है निकाम, निजपद ही है आनन्दधाम।
मेरे मन में बस यही चाह, निजपद को पाऊँ हे जिनाह।।

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने जयमाला पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

दोहा

पर का कुछ नहिं चाहता, चाहूँ अपना भाव।
निज स्वभाव में थिर रहूँ, मेटो सकल विभाव।।

पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्

प्रश्न -

१. जल, नैवेद्य और फल का छन्द अर्थ सहित लिखिये।
२. जयमाला में से जो पंक्तियाँ तुम्हें रुचिकर हों, उनमें से चार पंक्तियाँ अर्थ सहित लिखिये तथा रुचिकर होने का कारण भी लिखिये।

१. संसार का बंधन २. लिया।

पाठ २

पूजा-विधि और फल

राजू – पिताजी ! आज मन्दिर में लोग गा रहे थे – ''नाथ तेरी पूजा को फल पायो, नाथ तेरी ....'' – यह पूजा क्या है और इसका क्या फल है ?

सुबोधचन्द्र – इष्ट देव-शास्त्र-गुरु का गुण-स्तवन ही पूजा है।

राजू –इष्टदेव कौन होते हैं ?

सुबोधचन्द्र – मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि का अभाव करके पूर्ण ज्ञानी और सुखी होना ही इष्ट है। उसकी प्राप्ति जिसे हो गई हो, वही इष्टदेव है। अनंत चतुष्टय के धनी अरहंत और सिद्ध भगवान ही इष्टदेव हैं और वे ही परमपूज्य हैं।

राजू – देव की बात तो समझा। शास्त्र और गुरु कैसे पूज्य हैं ?

सुबोधचन्द्र – शास्त्र तो सच्चे देव की वाणी होने से और मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि का अभाव करने एवं सच्चे सुख का मार्ग-दर्शक होने से पूज्य हैं। नग्न दिगम्बर भावलिंगी गुरु भी उसी पथ के पथिक वीतरागी सन्त होने से पूज्य हैं।

राजू – हमारे विद्यागुरु, माता-पिता आदि भी तो गुरु कहलाते हैं। क्या उनकी भी पूजा करनी चाहिए ?

सुबोधचन्द्र – लौकिक दृष्टि से उनका भी यथायोग्य आदर तो करना ही चाहिए, पर उनके राग-द्वेष आदि का अभाव नहीं होने के कारण मोक्षमार्ग में उनको पूज्य नहीं माना जा सकता। अष्ट द्रव्य से पूजनीय तो वीतरागी सर्वज्ञ देव, वीतरागी मार्ग के निरूपक शास्त्र और नग्न दिगम्बर भावलिंगी गुरु ही हैं।

राजू – यह तो समझा कि देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करना चाहिए, पर यह भी तो बताइये कि इससे लाभ क्या है ?

सुबोधचन्द्र – ज्ञानी जीव लौकिक लाभ की दृष्टि से भगवान की आराधना नहीं करता है, उसे तो सहज ही भगवान के प्रति भक्ति का भाव आता है। जैसे धन चाहनेवाले को धनवान की महिमा आये बिना नहीं रहती, उसीप्रकार वीतरागता के उपासक अर्थात् मुक्ति के पथिक को मुक्तात्माओं के प्रति भक्ति का भाव आता ही है।

राजू – तो क्या ! भगवान की भक्ति से लौकिक (सांसारिक) सुख नहीं मिलता ?

सुबोधचन्द्र – ज्ञानी भक्त सांसारिक सुख चाहते ही नहीं हैं, पर शुभ भाव होने से उन्हें पुण्य-बंध अवश्य होता है और पुण्योदय के निमित्त से सांसारिक भोग-सामग्री भी उन्हें प्राप्त होती हैं; पर उनकी दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं। पूजा-भक्ति का सच्चा लाभ तो विषय-कषाय से बचना है।

राजू – तो पूजा किसप्रकार की जाती है ?

सुबोधचन्द्र – दिन में छने हुए जल से स्नान करके धुले वस्त्र पहिनकर जिनमंदिर में जिनेन्द्र भगवान के समक्ष विनयपूर्वक खड़े होकर प्रासुक द्रव्य से एकाग्रचित्त होकर पूजन की जाती है।

राजू – प्रासुक द्रव्य माने .... ?

सुबोधचन्द्र – जीव-जन्तुओं से रहित सुधे हुए अचित्त पदार्थ ही पूजन के प्रासुक द्रव्य हैं। जैसे – नहीं उगने योग्य अनाज-चावलादि, सूखे फल – बादाम आदि तथा शुद्ध छना हुआ जलादि।

राजू – बिना द्रव्य के पूजन नहीं हो सकती क्या ?

सुबोधचन्द्र – क्यों नहीं ? पूजा में तो भावों की ही प्रधानता है। गृहस्थावस्था में किन्हीं-किन्हीं के बिना द्रव्य के भी पूजन के भाव होते हैं। किन्हीं-किन्हीं के अष्ट द्रव्यों से पूजन के भाव होते हैं और किन्हीं-किन्हीं के एक-दो द्रव्य से ही पूजन करने के भाव होते हैं।

राजू – यह तो समझा, पर पूजन की पूरी विधि समझ में आई नहीं ....।

सुबोधचन्द्र – तुम तो यहीं खड़े-खड़े बातों में ही सब समझ लेना चाहते हो। कल प्रात: मेरे साथ पूजन करने मंदिरजी चलना। वहाँ देखकर पूरी विधि[१] अपने आप समझ में आ जावेगी।

राजू – हाँ ! हाँ ! अवश्य चलूँगा। मुझे मात्र विधि ही नहीं समझना है। मैं भी प्रतिदिन पूजन किया करूँगा।

सुबोधचन्द्र – तुम्हारा विचार अच्छा है। सांसारिक आकुलताओं व अशुभ-भाव से कुछ समय बचने के लिए यह भी एक उपाय है।

प्रश्न –

१. पूजा किसे कहते हैं ? पूजा किसकी की जाती है और क्यों ?
२. पूजा का फल क्या है ? ज्ञानी श्रावक भगवान की पूजा क्यों करता है ?
३. प्रासुक द्रव्य किसे कहते हैं ? क्या बिना द्रव्य के भी पूजन हो सकती है ?

१. अध्यापकों को उक्त पाठ पढ़ाते समय छात्रों को यथासमय मंदिर ले जाकर पूजन की पूरी विधि प्रयोगात्मकरूप से समझाना चाहिए।

पाठ ३ | उपयोग

आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी

(व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व)

तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम् ।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामीमुनीश्वरम् ।।

कम से कम लिखकर अधिक से अधिक प्रसिद्धि पानेवाले आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र से जैनसमाज जितना अधिक परिचित है, उनके जीवन-परिचय के संबंध में उतना ही अपरिचित है।

ये कुन्दकुन्दाचार्य के पट्ट शिष्य थे तथा विक्रम की प्रथम शताब्दी के अन्तिम काल में तथा द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत-भूमि को पवित्र कर रहे थे।

आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी उन गौरवशाली आचार्यों में हैं, जिन्हें समग्र आचार्य परम्परा में पूर्ण प्रामाणिकता और सम्मान प्राप्त है। जो महत्त्व वैदिकों में गीता का, ईसाइयों में बाइबिल का और मुसलमानों में कुरान का माना जाता है, वही महत्त्व जैन परम्परा में गृद्धपिच्छ उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र को प्राप्त है।

इसका दूसरा नाम मोक्षशास्त्र भी है। यह संस्कृत भाषा का सर्वप्रथम जैन ग्रन्थ है। इस महान ग्रन्थ पर संस्कृत व हिन्दी आदि अनेक भाषाओं में अनेक विस्तृत और गंभीर टीकाएँ व भाष्य लिखे गये हैं; जिनमें समन्तभद्र का गंधहस्ति महाभाष्य (अप्राप्य), अकलंक का तत्त्वार्थराजवार्तिक, विद्यानन्दि का तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक, पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि आदि संस्कृत में तथा हिन्दी में पण्डित सदासुखदासजी की अर्थप्रकाशिका आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।

प्रस्तुत अंश तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर लिखा गया है।

उपयोग

दर्शनलाल – भाई ज्ञानचन्द ! यह मेरी समझ में नहीं आता कि पिताजी ने अपने ये नाम कहाँ से चुने हैं ?

ज्ञानचन्द – अरे ! तुम्हें नहीं मालूम - ये दोनों ही नाम धार्मिक दृष्टि से पूर्ण सार्थक हैं। अपनी आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान-दर्शनमय है। मोक्षशास्त्र में लिखा है - **'उपयोगो लक्षणम्'** ।।२।।८।। अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है और ज्ञान-दर्शन के व्यापार अर्थात् कार्य को ही उपयोग कहते हैं।

दर्शनलाल – अरे वाह ! ऐसी बात है क्या ? मुझे तो ये नाम बड़े अटपटे लगते हैं।

ज्ञानचन्द – भाई ! तुम ठीक कहते हो। जबतक जिस बात को कभी सुना नहीं, कभी जाना नहीं, तबतक ऐसा ही होता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने भी लिखा है - इस जीव ने विषय-कषाय की बातें तो खूब सुनीं, परिचय किया और अनुभव की हैं, अत: वे सरल लगती हैं; परन्तु आत्मा की बात आजतक न सुनी, न परिचय किया और न आत्मा का अनुभव ही किया है; अत: अटपटी लगेगी ही।

दर्शनलाल – भाई ज्ञानचन्द ! तो आप इस उपयोग को थोड़ा और खुलासा करके समझाओ, जिससे कम से कम अपने नाम का रहस्य तो जान सकूँ।

ज्ञानचन्द – अच्छी बात है, सुनो।

चैतन्य के साथ संबंध रखनेवाले (अनुविधायी) जीव के परिणाम को उपयोग कहते हैं और उपयोग को ही ज्ञान-दर्शन भी कहते हैं। यह ज्ञान-दर्शन सब जीवों में होता है और जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं होता; इसलिए यह जीव का लक्षण है। इससे ही जीव की पहचान होती है। इस उपयोग के मुख्य दो भेद हैं :-

(१) दर्शनोपयोग (२) ज्ञानोपयोग

दर्शनलाल – दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में क्या अंतर है ? यह समझाइये।

ज्ञानचन्द – जिसमें सामान्य का प्रतिभास (निराकार झलक) हो, उसको दर्शनोपयोग कहते हैं और जिसमें स्व-पर पदार्थों का भिन्नतापूर्वक अवभासन हो, उस उपयोग को ज्ञानोपयोग कहते हैं।

दर्शनलाल – सब जीवों का ज्ञान एक सरीखा तो नहीं होता ?

ज्ञानचन्द – हाँ, शक्ति अपेक्षा तो सब में ज्ञान गुण एक समान ही है; किन्तु वर्तमान की अपेक्षा ज्ञान के मुख्य रूप से ८ भेद होते हैं :-

(१) मतिज्ञान	(२) श्रुतज्ञान	(३) अवधिज्ञान
(४) मन:पर्ययज्ञान	(५) केवलज्ञान	
(६) कुमति	(७) कुश्रुत	(८) कुअवधि

दर्शनलाल – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि से क्या तात्पर्य ?

ज्ञानचन्द – पराश्रय की बुद्धि छोड़कर दर्शनोपयोगपूर्वक स्वसन्मुखता से प्रकट होनेवाले निज आत्मा के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। अथवा इन्द्रियाँ और मन हैं निमित्त जिसमें, उस ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं और मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ के संबंध से अन्य पदार्थ को जाननेवाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।

इन्द्रियों और मन के निमित्त बिना तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की मर्यादा लिए हुए रूपीपदार्थ के स्पष्ट ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं।

दर्शनलाल – और मन:पर्ययज्ञान ?

ज्ञानचन्द – सुनो, सब बताता हूँ। ज्ञानी मुनिराज को इन्द्रियों और मन के निमित्त बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की मर्यादा लिए हुए दूसरे के मन में स्थित रूपीविषय के स्पष्ट ज्ञान होने को मन:पर्ययज्ञान कहते हैं। तथा जो तीन लोक तथा तीन कालवर्ती सर्व पदार्थों व उनके समस्त गुण व समस्त पर्यायों को तथा अपेक्षित धर्मों को प्रत्येक समय में स्पष्ट और एक साथ जानता है, ऐसे पूर्ण ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।

दर्शनलाल – ये तो ठीक 'पर कुमति आदि भी कोई ज्ञान हैं' ?

ज्ञानचन्द – आत्मस्वरूप न जाननेवाले मिथ्यादृष्टि के जो मति, श्रुत, अवधिज्ञान होते हैं – वे कुमति, कुश्रुत व कुअवधि कहलाते हैं; क्योंकि मूलतत्त्व में विपरीत श्रद्धा होने से उसका ज्ञान मिथ्या होता है, भले ही उसके अप्रयोजनभूत लौकिक ज्ञान यथार्थ हो, किन्तु प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान यथार्थ न होने से उसके वे सब ज्ञान मिथ्या ही हैं।

दर्शनलाल – क्या दर्शनोपयोग के भी भेद होते हैं ?

ज्ञानचन्द – हाँ ! दर्शनोपयोग चार प्रकार का होता है :-

(१) चक्षुदर्शन	(२) अचक्षुदर्शन
(४) अवधिदर्शन	(४) केवलदर्शन

दर्शनलाल – चक्षुदर्शन तो ठीक है अर्थात् आँख से देखना, परन्तु अचक्षुदर्शन क्या है ?

ज्ञानचन्द – नहीं भाई ! ऐसा नहीं है।

चक्षु इन्द्रिय जिसमें निमित्त हो, उस मतिज्ञान से पहले जो सामान्य प्रतिभास या अवलोकन होता है, उसको चक्षुदर्शन कहते हैं। और चक्षुइन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियाँ और मन जिसमें निमित्त हों – ऐसे मतिज्ञान से पहले होनेवाले सामान्य प्रतिभास को अचक्षुदर्शन कहते हैं।

दर्शनलाल – बहुत ठीक, और अवधिदर्शन ?

ज्ञानचन्द – इसीप्रकार अवधिज्ञान से पहले होनेवाले सामान्य प्रतिभास को अवधिदर्शन कहते हैं, परन्तु केवलदर्शन में कुछ विशेषता है।

दर्शनलाल – वह क्या ?

ज्ञानचन्द – केवलज्ञान के साथ होनेवाले सामान्य प्रतिभास व अवलोकन को केवलदर्शन कहते हैं। केवलदर्शन व केवलज्ञान में कालभेद नहीं होता।

दर्शनलाल – वाह भाई ! खूब समझाया ! धन्यवाद !!

प्रश्न –

१. उपयोग किसे कहते हैं ? वह कितने प्रकार का होता है ? भेद-प्रभेद सहित गिनाइए ?
२. दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में क्या अन्तर है ? स्पष्ट कीजिए ?
३. निम्नांकित में से किन्हीं दो की परिभाषाएँ दीजिये :-
   मतिज्ञान, केवलज्ञान, चक्षुदर्शन, केवलदर्शन?
४. आचार्य उमास्वामी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए ?

पाठ ४

अगृहीत और गृहीत मिथ्यात्व

अध्यात्मप्रेमी पण्डित दौलतरामजी

व्यक्तित्व एवं कर्त्तृत्व

(संवत् १८५५-१९२३)

अध्यात्म-रस में निमग्न रहनेवाले, उन्नीसवीं सदी के तत्त्वदर्शी विद्वान कविवर पण्डित दौलतरामजी पल्लीवाल जाति के नररत्न थे। आपका जन्म अलीगढ़ के पास सासनी नामक ग्राम में हुआ था। बाद में आप कुछ दिन अलीगढ़ भी रहे थे। आपके पिता का नाम टोडरमलजी था।

आत्मश्लाघा से दूर रहनेवाले इस महान कवि का जीवन-परिचय अभी पूर्णत: प्राप्त नहीं है, पर इतना निश्चित है कि वे एक साधारण गृहस्थ एवं सरल स्वभावी, आत्मज्ञानी पुरुष थे।

आपके द्वारा रचित छहढाला जैनसमाज का बहुप्रचलित एवं समादृत ग्रन्थरत्न है। शायद ही कोई जैनभाई हो, जिसने छहढाला का अध्ययन न किया हो। सभी जैन परीक्षा बोर्डों के पाठ्यक्रम में इसे स्थान प्राप्त है।

इसकी रचना आपने संवत् १८९१ में की थी। आपने इसमें गागर में सागर भरने का सफल प्रयत्न किया है। इसके अलावा आपने अनेक स्तुतियाँ एवं अध्यात्म-रस से ओतप्रोत अनेक भजन लिखे हैं, जो आज भी सारे हिन्दुस्तान की शास्त्र-सभाओं में प्रतिदिन बोले जाते हैं। आपके भजनों में मात्र भक्ति ही नहीं, गूढ़ तत्त्व भी भरे हुए हैं।

भक्ति और अध्यात्म के साथ ही आपके काव्य में काव्योपादान भी अपने प्रौढ़तम रूप में पाये जाते हैं। भाषा सरल, सुबोध, प्रवाहमयी है; भर्ती के शब्दों का अभाव है। आपके पद हिन्दी गीत-साहित्य के किसी भी महारथी के सम्मुख बड़े ही गर्व के साथ रखे जा सकते हैं।

प्रस्तुत अंश आपकी प्रसिद्ध रचना छहढाला की दूसरी ढाल पर आधारित है।

अगृहीत और गृहीत मिथ्यात्व

छात्र – छहढाला में किसकी कथा है ?

अध्यापक – हमारी, तुम्हारी और सब की कथा है। उसमें तो इस जीव के संसार में घूमने की कथा है। यह जीव अनन्तकाल से चारों गति में भ्रमण कर रहा है, पर इसे कहीं भी सुख प्राप्त नहीं हुआ – यही तो बताया है पहली ढाल में।

छात्र – यह संसार में क्यों घूम रहा है और किस कारण से दु:खी है ?

अध्यापक – इसी प्रश्न का उत्तर तो दूसरी ढाल में दिया गया है –

ऐसे मिथ्या दृग-ज्ञान-चर्णवश,
भ्रमत भरत दु:ख जन्म-मर्ण।।१।।

यह जीव मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वश होकर इसप्रकार संसार में घूमता हुआ जन्म-मरण के दु:ख उठा रहा है।

छात्र – ये मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र क्या हैं, जिनके कारण सब दु:खी हैं ?

अध्यापक – जीवादि सात तत्त्वों की विपरीत श्रद्धा ही मिथ्यात्व है, इसे ही मिथ्यादर्शन भी कहते हैं। जीव, अजीव आदि सात तत्त्व जो तुमने पहले सीखे थे न; वे जैसे हैं, उन्हें वैसे न मानकर उलटा मानना ही विपरीत श्रद्धा है। कहा भी है –

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व,
सरधैं तिन माँहि विपर्ययत्व।।२।।

छात्र – इस मिथ्यात्व के चक्कर में हम कब से आ गये ?

अध्यापक – यह तो अनादि से है, जब से हम हैं तभी से है; पर हम इसे बाह्य कारणों से और पुष्ट करते रहते हैं। यह दो प्रकार का होता है। एक अगृहीत मिथ्यात्व और दूसरा गृहीत मिथ्यात्व।

छात्र – यह गृहीत और अगृहीत क्या बला है ?

अध्यापक – जो बिना सिखाये अनादि से ही शरीर, रागादि पर-पदार्थों में अहंबुद्धि है, वह तो अगृहीत मिथ्यात्व है और जो कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र के उपदेशादि से अनादि से चली आई उलटी मान्यता की पुष्टि होती है, वह गृहीत मिथ्यात्व है। अगृहीत अर्थात् बिना ग्रहण किया हुआ और गृहीत अर्थात् ग्रहण किया हुआ।

छात्र – ऐसे तो गृहीत और अगृहीत मिथ्याज्ञान भी होता होगा ?

अध्यापक – हाँ ! हाँ !! होता है।

जीवादि तत्त्वों के संबंध में जो अनादि से ही अज्ञानता है, वह तो अगृहीत मिथ्याज्ञान है तथा जिसमें विपरीत वर्णन द्वारा रागादि का पोषण किया गया हो, उन शास्त्रों को सही मानकर अध्ययन करना ही गृहीत मिथ्याज्ञान है।

छात्र – क्या मिथ्याचारित्र को भी ऐसा ही समझें ?

अध्यापक – समझें क्या ! है ही ऐसा।

अज्ञानी जीव की विषयों में प्रवृत्ति ही अगृहीत मिथ्याचारित्र है तथा प्रशंसादि के लोभ से जो ऊपरी आचार पाला जाता है, वह गृहीत मिथ्याचारित्र है। बाहरी क्रियाकाण्ड आत्मा (जीव), अनात्मा (अजीव) के ज्ञान और श्रद्धान से रहित होने के कारण सब असफल है। कहा भी है –

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह,
धरि करन विविध विधि देहदाह।
आतम अनात्म के ज्ञानहीन,
जे जे करनी तन करन छीन ।।१४।।

छात्र – अज्ञानी जीव की सब क्रियायें अधर्म क्यों हैं ? जो अच्छी हैं, उन्हें तो धर्म कहना चाहिए ?

अध्यापक – इसी के उत्तर में तो पण्डित दौलतरामजी कहते हैं :-

रागादि भाव हिंसा समेत,
दर्वित त्रस थावर मरण खेत।
जे क्रिया तिन्हैं जानहु कुधर्म,
तिन सरधै जीव लहै अशर्म ।।१२।।

अंतर में उठनेवाले राग तथा द्वेषरूप भाव-हिंसा तथा त्रस और स्थावर के घातरूप द्रव्य-हिंसा से सहित जो भी क्रियायें हैं, उन्हें धर्म मानना कुधर्म है। इनमें श्रद्धा रखने से जीव दु:खी होता है।

छात्र – इनसे बचने का उपाय क्या है ?

अध्यापक – देव-शास्त्र-गुरु का सच्चा स्वरूप समझ कर तो गृहीत मिथ्यात्व से बचा जा सकता है और जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों की सच्ची जानकारीपूर्वक आत्मानुभूति पाकर अगृहीत मिथ्यात्व को दूर किया जा सकता है।

छात्र – तो समझाइये न इन सब का स्वरूप ?

अध्यापक – फिर कभी ....

प्रश्न –

१. जीव दु:खी क्यों है ? क्या दु:ख से छुटकारा पाया जा सकता है ? यदि हाँ, तो कैसे ?
२. गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्व में क्या अंतर है ? स्पष्ट कीजिए ?
३. क्या रागादि के पोषक शास्त्रों का पढ़ना मात्र गृहीत मिथ्याज्ञान है ?
४. संयमी की लोक में पूजा होती है, अत: संयम धारण करना चाहिए – यह युक्तिसंगत है, नहीं तो क्यों ?
५. पण्डित दौलतरामजी का परिचय दीजिये। उनकी छहढाला में पहली और दूसरी ढाल में किस बात को समझाया गया है ? स्पष्ट कीजिये ?

पाठ ५

मैं कौन हूँ ?

'मैं' शब्द का प्रयोग हम प्रतिदिन कई बार करते हैं, पर गहराई से कभी यह सोचने का यत्न नहीं करते कि 'मैं' का वास्तविक अर्थ क्या है ? 'मैं' का असली वाच्यार्थ क्या है ? 'मैं' शब्द किस वस्तु का वाचक है ?

सामान्य तरीके से सोचकर आप कह सकते हैं – इसमें गहराई से सोचने की बात ही क्या है ? क्या हम इतना भी नहीं समझते हैं कि 'मैं' कौन हूँ ? और आप उत्तर भी दे सकते हैं कि 'मैं बालक हूँ या जवान हूँ, मैं पुरुष हूँ या स्त्री हूँ, मैं पण्डित हूँ या सेठ हूँ।' पर मेरा प्रश्न तो यह है कि क्या आप इनके अलावा और कुछ नहीं हैं ? यह सब तो बाहर से दिखनेवाली संयोगी पर्यायें मात्र हैं।

मेरा कहना है कि यदि आप बालक हैं तो बालकपन तो एक दिन समाप्त हो जानेवाला है, पर आप तो फिर भी रहेंगे, अत: आप बालक नहीं हो सकते। इसीप्रकार जवान भी नहीं हो सकते; क्योंकि बालकपन और जवानी – यह तो शरीर के धर्म हैं तथा 'मैं' शब्द शरीर का वाचक नहीं है। मुझे विश्वास है कि आप भी अपने को शरीर नहीं मानते होंगे।

ऐसे ही आप सेठ तो धन के संयोग से हैं, पर धन तो निकल जानेवाला है, तो क्या जब धन नहीं रहेगा, तब आप भी न रहेंगे ? तथा पण्डिताई तो शास्त्रज्ञान का नाम है, तो क्या जब आपको शास्त्रज्ञान नहीं था, तब आप नहीं थे ? यदि थे, तो मालूम होता है कि आप धन और पण्डिताई से भी पृथक् हैं अर्थात् आप सेठ और पण्डित भी नहीं हैं।

तब प्रश्न उठता है कि आखिर 'मैं हूँ कौन ?' यदि एकबार यह प्रश्न हृदय की गहराई से उठे और उसके समाधान की सच्ची जिज्ञासा जगे तो इसका उत्तर मिलना

दुर्लभ नहीं। पर यह 'मैं' पर की खोज में स्व को भूल रहा है। कैसी विचित्र बात है कि खोजनेवाला खोजनेवाले को ही भूल रहा है! सारा जगत पर की सँभाल में इतना व्यस्त नजर आता है कि 'मैं कौन हूँ ?' – यह सोचने समझने की उसे फुर्सत ही नहीं है।

'मैं' शरीर, मन, वाणी और मोह-राग-द्वेष, यहाँ तक कि क्षणस्थायी परलक्ष्यी बुद्धि से भी भिन्न एक त्रैकालिक, शुद्ध, अनादि-अनन्त, चैतन्य, ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व हूँ, जिसे आत्मा कहते हैं।

जैसे – 'मैं बंगाली हूँ, मैं मद्रासी हूँ और मैं पंजाबी हूँ'; इस प्रान्तीयता के घटाटोप में आदमी यह भूल जाता है कि 'मैं भारतीय हूँ' और प्रान्तीयता की सघन अनुभूति से भारतीय राष्ट्रीयता खण्डित होने लगती है; उसीप्रकार 'मैं मनुष्य हूँ, देव हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, बालक हूँ, जवान हूँ' आदि में आत्मबुद्धि के बादलों के बीच आत्मा तिरोहित-सा हो जाता है। जैसे आज के राष्ट्रीय नेताओं की पुकार है कि देशप्रेमी बन्धुओ ! आप लोग मद्रासी और बंगाली होने के पहले भारतीय हैं, यह क्यों भूल जाते हैं ? उसीप्रकार मेरा कहना है कि 'मैं सेठ हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं बालक हूँ, मैं वृद्ध हूँ' के कोलाहल में 'मैं आत्मा हूँ' को हम क्यों भूल जाते हैं ?

जैसे भारत देश की अखण्डता अक्षुण्ण रखने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक भारतीय में 'मैं भारतीय हूँ' – यह अनुभूति प्रबल होनी चाहिए। भारतीय एकता के लिए उक्त अनुभूति ही एकमात्र सच्चा उपाय है। उसीप्रकार 'मैं कौन हूँ' का सही उत्तर पाने के लिए 'मैं आत्मा हूँ' की अनुभूति प्रबल हो, यह अति आवश्यक है।

हाँ ! तो स्त्री, पुत्र, मकान, रुपया, पैसा – यहाँ तक कि शरीर से भी भिन्न मैं तो एक चेतनतत्त्व आत्मा हूँ। आत्मा में उठनेवाले मोह-राग-द्वेष भाव भी क्षणस्थायी विकारीभाव होने से आत्मा की सीमा में नहीं आते तथा परलक्ष्यी ज्ञान का अल्पविकास भी परिपूर्ण ज्ञानस्वभावी आत्मा का अवबोध कराने में समर्थ नहीं है। यहाँ तक कि ज्ञान की पूर्ण विकसित अवस्था, अनादि नहीं होने से अनादि-अनन्त पूर्ण एक ज्ञानस्वभावी आत्मा नहीं हो सकती है; क्योंकि आत्मा तो एक द्रव्य है और यह तो आत्मा के ज्ञान गुण की पूर्ण विकसित एक पर्याय मात्र है।

'मैं' का वाच्यार्थ 'आत्मा' तो अनादि-अनन्त अविनाशी त्रैकालिक तत्त्व है। जबतक उस ज्ञानस्वभावी अविनाशी ध्रुवतत्त्व में अहंबुद्धि (वही मैं हूँ - ऐसी मान्यता) नहीं आती, तबतक 'मैं कौन हूँ' - यह प्रश्न भी अनुत्तरित ही रहेगा।

'मैं' के द्वारा जिस आत्मा का कथन किया जाता है, वह आत्मा अन्तरोन्मुखी दृष्टि का विषय है, अनुभवगम्य है, बहिर्लक्ष्यी दौड़धूप से वह प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह स्वसंवेद्य तत्त्व है, अत: उसे मानसिक विकल्पों में नहीं बाँधा जा सकता है, उसे इन्द्रियों द्वारा भी उपलब्ध नहीं किया जा सकता - क्योंकि इन्द्रियाँ तो मात्र स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द की ग्राहक हैं; अत: वे तो केवल स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाले जड़तत्त्व को ही जानने में निमित्तमात्र हैं। वे इन्द्रियाँ अरस, अरूपी आत्मा को जानने में एक तरह से निमित्त भी नहीं हो सकती हैं।

यह अनुभवगम्य आत्मवस्तु ज्ञान का घनपिंड और आनन्द का कंद है। रूप, रस, गंध, स्पर्श और मोह-राग-द्वेष आदि सर्व पर-भावों से भिन्न, सर्वांग परिपूर्ण शुद्ध है। समस्त पर-भावों से भिन्नता और ज्ञानादिमय भावों से अभिन्नता ही इसकी शुद्धता है। यह एक है, अनंत गुणों की अखण्डता ही इसकी एकता है। ऐसा यह आत्मा मात्र आत्मा है और कुछ नहीं है, यानी 'मैं' मैं ही हूँ और कुछ नहीं। 'मैं' मैं ही हूँ और अपने में ही सब कुछ हूँ। पर को देने लायक मुझ में कुछ नहीं है तथा अपने में परिपूर्ण होने से पर के सहयोग की मुझे कोई आवश्यकता नहीं है।

यह आत्मा वाग्विलास और शब्दजाल से परे है, मात्र अनुभूतिगम्य है - आत्मानुभूति को प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय तत्त्वविचार है, पर यह आत्मानुभूति आत्मतत्त्व सम्बन्धी विकल्प का भी अभाव करके होनेवाली स्थिति है।

'मैं कौन हूँ' - यह जानने की वस्तु है, यह अनुभूति द्वारा प्राप्त होनेवाला समाधान (उत्तर) है। यह वाणी द्वारा व्यक्त करने और लेखनी द्वारा लिखने की वस्तु नहीं है। वाणी और लेखनी की इस सन्दर्भ में मात्र इतनी ही उपयोगिता है कि ये उसकी ओर संकेत कर सकती हैं, ये दिशा इंगित कर सकती हैं; दशा नहीं ला सकती हैं।

प्रश्न -

१. 'मैं कौन हूँ' - इस विषय पर अपनी भाषा में एक निबन्ध लिखिये।

पाठ ६

ज्ञानी श्रावक के बारह व्रत

(पंचम गुणस्थानवर्ती)

जिसे यथार्थ सम्यग्दर्शन प्रकट हो चुका है, उसे ही ज्ञानी कहते हैं। ऐसा ज्ञानी जीव जब अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के अभाव में अपने में देशचारित्रस्वरूप आत्मशुद्धि प्रकट करता है, तब वह व्रती श्रावक कहलाता है।

जो आत्मशुद्धि प्रकट हुई, उसे निश्चय व्रत कहते हैं और उक्त आत्मशुद्धि के सद्भाव में जो हिंसादि पंच पापों के त्याग तथा अहिंसादि पंचाणुव्रत आदि के धारण करने रूप शुभभाव होते हैं, उन्हें व्यवहार व्रत कहते हैं। इसप्रकार के शुभभाव ज्ञानी श्रावक के सहज रूप में प्रकट होते हैं।

ये व्रत बारह प्रकार के होते हैं। उनमें हिंसादि पाँच पापों के एकदेश त्यागरूप पाँच अणुव्रत होते हैं। इन अणुव्रतों के रक्षण और उनमें अभिवृद्धिरूप तीन गुणव्रत तथा महाव्रतों के अभ्यासरूप चार शिक्षाव्रत होते हैं।

पाँच अणुव्रत

१. अहिंसाणुव्रत - हिंसाभाव के स्थूल रूप में त्याग को अहिंसाणुव्रत कहते हैं। इसे समझने के लिए पहले हिंसा को समझना आवश्यक है। कषायभाव के उत्पन्न होने पर आत्मा के उपयोग की शुद्धता (शुद्धोपयोग) का घात होना, भावहिंसा है और उक्त कषायभाव निमित्त है जिसमें - ऐसे अपने और पराये द्रव्यप्राणों का घात होना, द्रव्यहिंसा है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रंथ में लिखा है* –

"आत्मा में रागादि दोषों का उत्पन्न होना ही हिंसा है तथा उनका उत्पन्न न होना ही अहिंसा है।"

यदि कोई व्यक्ति राग-द्वेषादि भाव न करके, योग्यतम आचरण करे तथा सावधानी रखने पर भी यदि किसी जीव का घात हो जाये, तो वह हिंसा नहीं है। इसके विपरीत कोई जीव अन्तरंग में कषायभाव रखे तथा बाह्य में भी असावधान रहे, पर उसके निमित्त से किसी जीव का घात न भी हुआ हो तो भी वह हिंसक है। सारांश यह है कि हिंसा और अहिंसा का निर्णय प्राणी के मरने या न मरने से नहीं, रागादि भावों की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति से है।

निमित्तभेद से हिंसा चार प्रकार की होती है :-

(१) संकल्पी हिंसा (२) उद्योगी हिंसा

(३) आरम्भी हिंसा (४) विरोधी हिंसा

केवल निर्दय परिणाम ही हेतु है जिसमें – ऐसे संकल्प (इरादा) पूर्वक किया गया प्राणघात ही संकल्पी हिंसा है।

व्यापारादि कार्यों में तथा गृहस्थी के आरम्भादि कार्यों में सावधानी वर्तते हुए भी जो हिंसा हो जाती है, वह उद्योगी और आरम्भी हिंसा है।

अपने तथा अपने परिवार, धर्मायतन आदि पर किए गये आक्रमण से रक्षा के लिए अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा, विरोधी हिंसा है।

व्रती श्रावक उक्त चार प्रकार की हिंसाओं में संकल्पी हिंसा का तो सर्वथा त्यागी होता है अर्थात् सहज रूप से उसके इसप्रकार के भाव ही उत्पन्न नहीं होते हैं। अन्य तीनों प्रकार की हिंसा से भी यथासाध्य बचने का प्रयत्न रखता है। हिंसा भाव का एकदेश त्याग होने से यह व्रत अहिंसाणुव्रत कहलाता है।

२. सत्याणुव्रत – प्रमाद के योग से असत् वचन बोलना असत्य है, इसका एकदेश त्याग ही सत्याणुव्रत है। असत्य चार प्रकार का होता है :-

(१) सत् का अपलाप (२) असत् का उद्भावन

(३) अन्यथा प्ररूपण (४) गर्हित वचन

विद्यमान पदार्थ को अविद्यमान कहना, सत् का अपलाप है।

अविद्यमान को विद्यमान कहना, असत् का उद्भावन है।

कुछ का कुछ कहना अर्थात् वस्तु स्वरूप जैसे है वैसा न कहकर अन्यथा कहना, अन्यथा प्ररूपण है। जैसे – हिंसा में धर्म बताना।

निंदनीय, कलहकारक, पीड़ाकारक, शास्त्रविरुद्ध, हिंसापोषक, परापवादकारक आदि वचनों को गर्हित वचन कहते हैं।

३. अचौर्याणुव्रत – जिस वस्तु में लेने-देने का व्यवहार है, ऐसी वस्तु को प्रमाद के योग से उसके स्वामी की अनुमति बिना ग्रहण करना चोरी है। ऐसी चोरी का त्याग अचौर्यव्रत है। चोरी का त्यागी होने पर भी गृहस्थ कूप, नदी आदि से जल एवं खान से मिट्टी आदि वस्तुओं को बिना पूछे भी ग्रहण कर लेता है, अत: एकदेश चोरी का त्यागी होने से अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

४. ब्रह्मचर्याणुव्रत – पूर्णतया स्त्री-सेवन का त्याग ब्रह्मचर्यव्रत है। जो गृहस्थ इसे धारण करने में असमर्थ हैं, वे स्वस्त्री में संतोष करते हैं और परस्त्री-रमण के भाव को सर्वथा त्याग देते हैं, उनका यह व्रत एकदेशरूप होने से ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है।

५. परिग्रहपरिमाणव्रत – अपने से भिन्न पर-पदार्थों में ममत्वबुद्धि ही परिग्रह है। यह अन्तरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार का होता है। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादि नव नौकषाय – ये चौदह अंतरंग परिग्रह के भेद हैं। तथा जमीन-मकान, सोना-चाँदी, धन-धान्य, नौकर-नौकरानी, बर्तन आदि अन्य वस्तुयें बाह्य परिग्रह हैं। उक्त परिग्रहों में गृहस्थ के मिथ्यात्व नामक परिग्रह का तो पूर्ण रूप से त्याग हो जाता है तथा बाकी अंतरंग परिग्रहों का कषायांश के सद्भाव के कारण एकदेश त्याग होता है तथा वह बाह्य परिग्रह की सीमा निर्धारित कर लेता है। इस व्रत को परिग्रहपरिमाणव्रत कहते हैं।

* अप्रादुर्भाव: खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप: ।।४४।।

गुणव्रत

दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत – ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं।

१. दिग्व्रत – कषायांश कम हो जाने से गृहस्थ दशों दिशाओं में प्रसिद्ध स्थानों के आधार पर अपने आवागमन की सीमा निश्चित कर लेता है और जीवनपर्यन्त उसका उल्लंघन नहीं करता, इसे दिग्व्रत कहते हैं।

२. देशव्रत – दिग्व्रत की बाँधी हुई विशाल सीमा को घड़ी, घंटा, दिन, सप्ताह, माह आदि काल की मर्यादापूर्वक और भी सीमित (कम) कर लेना देशव्रत है।

३. अनर्थदण्डव्रत – बिना प्रयोजन हिंसादि पापों में प्रवृत्ति करना या उस रूप भाव करना अनर्थदण्ड है और उसके त्याग को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं। व्रती श्रावक बिना प्रयोजन जमीन खोदना, पानी ढोलना, अग्नि जलाना, वायु संचार करना, वनस्पति छेदन करना आदि कार्य नहीं करता अर्थात् त्रसहिंसा का तो वह त्यागी है ही, पर अप्रयोजनीय स्थावरहिंसा का भी त्याग करता है। तथा राग-द्वेषादिक प्रवृत्तियों में भी उनकी वृत्ति नहीं रमती, वह इनसे विरक्त रहता है। इसी व्रत को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।

शिक्षाव्रत

सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, भोगोपभोगपरिमाणव्रत और अतिथिसंविभागव्रत – ये चार शिक्षाव्रत हैं।

१. सामायिकव्रत – सम्पूर्ण द्रव्यों में राग-द्वेष के त्यागपूर्वक समता भाव का अवलम्बन करके आत्मभाव की प्राप्ति करना ही सामायिक है। व्रती श्रावकों द्वारा प्रात:, दोपहर, सायं – कम से कम अन्तर्मुहूर्त एकान्त स्थान में सामायिक करना सामायिकव्रत है।

२. प्रोषधोपवासव्रत – कषाय, विषय और आहार का त्याग कर आत्मस्वभाव के समीप ठहरना उपवास है। प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी को सर्वारम्भ छोड़कर उपवास करना ही प्रोषधोपवास है।

यह तीन प्रकार से किया जाता है – उत्तम, मध्यम और जघन्य।

उत्तम – पर्व के एक दिन पूर्व व एक दिन बाद एकासनपूर्वक व पर्व के दिन पूर्ण उपवास करना उत्तम प्रोषधोपवास है।

मध्यम – केवल पर्व के दिन उपवास करना मध्यम प्रोषधोपवास है।

जघन्य – पर्व के दिन केवल एकासन करना जघन्य प्रोषधोपवास है।

३. भोगोपभोगपरिमाणव्रत – प्रयोजनभूत सीमित परिग्रह के भीतर भी कषाय कम करके भोग और उपभोग का परिमाण घटाना भोगोपभोगपरिमाणव्रत है। पंचेन्द्रिय के विषयों में जो एकबार भोगने में आ सकें, उन्हें भोग और बार-बार भोगने में आवें, उन्हें उपभोग कहते हैं।

४. अतिथिसंविभागव्रत – मुनि, व्रती श्रावक और अव्रती श्रावक – इन तीन प्रकार के पात्रों को अपने भोजन में से विभाग करके विधिपूर्वक दान देना अतिथिसंविभागव्रत है।

निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक उक्त बारह व्रतों को निरतिचार धारण करनेवाला श्रावक ही व्रती श्रावक कहलाता है; क्योंकि बिना सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के सच्चे व्रतादि होते ही नहीं हैं। तथा निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानपूर्वक अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव होने पर प्रकट होनेवाली आत्मशुद्धि के साथ सहज ही ज्ञानी श्रावक के उक्त व्रतादिरूप भाव होते हैं। आत्मज्ञान बिना जो व्रतादिरूप शुभभाव होते हैं, वे सच्चे व्रत नहीं हैं।

प्रश्न –

१. व्रती श्रावक किसे कहते हैं ? श्रावक के व्रत क्या हैं ? वे कितने प्रकार के होते हैं ? नाम सहित गिनाइये ?
२. अहिंसाणुव्रत और सत्याणुव्रत का विस्तार से विवेचन कीजिए ?
३. निम्नांकितों में से किन्हीं तीन की परिभाषाएँ दीजिए :-
   हिंसा, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक शिक्षाव्रत, अचौर्याणुव्रत ?
४. निम्नलिखित में परस्पर अन्तर बताइये :-
   (क) भोग और उपभोग (ख) दिग्व्रत और देशव्रत
   (ग) परिग्रहपरिमाणव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत
५. 'ज्ञानी श्रावक के बारह व्रत' विषय पर अपनी भाषा में एक निबंध लिखिए ?

पाठ ७

मुक्ति का मार्ग

आचार्य अमृतचंद्र

(व्यक्तित्व एवं कर्त्तृत्व)

आध्यात्मिक सन्तों में कुन्दकुन्दाचार्य के बाद यदि किसी का नाम लिया जा सकता है तो वे हैं आचार्य अमृतचन्द्र। दु:ख की बात है कि १०वीं शती के लगभग होनेवाले इन महान आचार्य के बारे में उनके ग्रन्थों के अलावा एक तरह से हम कुछ भी नहीं जानते।

लोक-प्रशंसा से दूर रहनेवाले आचार्य अमृतचन्द्र तो अपूर्व ग्रन्थों की रचनायें करने के उपरान्त भी यही लिखते हैं –

वर्णै: कृतानि चित्रै: पदानि
तु पदै: कृतानि वाक्यानि।
वाक्यै: कृतं पवित्रं शास्त्र-
मिदं न पुनरस्माभि:।।२२६।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

तरह-तरह के वर्णों से पद बन गये, पदों से वाक्य बन गये और वाक्यों से यह पवित्र शास्त्र बन गया। मैंने कुछ भी नहीं किया है।

इसीप्रकार का भाव आपने 'तत्त्वार्थसार' में भी प्रकट किया है।

पण्डित आशाधरजी ने आपको 'ठक्कुर' शब्द से अभिहित किया है, अत: प्रतीत होता है कि आप किसी उच्च क्षत्रिय घराने से सम्बन्धित रहे होंगे।

आपका संस्कृत भाषा पर अपूर्व अधिकार था। आपकी गद्य और पद्य दोनों प्रकार की रचनाओं में आपकी भाषा भावानुवर्त्तिनी एवं सहज बोधगम्य, माधुर्यगुण से युक्त है। आप आत्मरस में निमग्न रहनेवाले महात्मा थे, अत: आपकी रचनायें अध्यात्म-रस से ओतप्रोत हैं।

आपके सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं। आपकी रचनायें गद्य और पद्य दोनों प्रकार की पाई जाती हैं। गद्य रचनाओं में आचार्य कुन्दकुन्द के महान ग्रन्थों पर लिखी हुई टीकायें हैं।

१. समयसार की टीका – जो 'आत्मख्याति' के नाम से जानी जाती है।
२. प्रवचनसार की टीका – जिसे 'तत्त्वप्रदीपिका' कहते हैं।
३. पञ्चास्तिकाय की टीका – जिसका नाम 'समयव्याख्या' है।
४. तत्त्वार्थसार – यह ग्रन्थ गृद्धपिच्छ उमास्वामी के गद्य सूत्रों का एक तरह से पद्यानुवाद है।
५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय – गृहस्थ धर्म पर आपका मौलिक ग्रन्थ है। इसमें हिंसा और अहिंसा का बहुत ही तथ्यपूर्ण विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत अंश आपके ग्रन्थ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय पर आधारित है।

तातैं बहुत कहा कहिए, जैसैं रागादि मिटावने का श्रद्धान होय, सो ही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। बहुरि जैसैं रागादि मिटावने का जानना होय, सो ही जानना सम्यग्ज्ञान है। बहुरि जैसैं रागादि मिटैं, सो ही आचरण सम्यक्चारित्र है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।

– मोक्षमार्गप्रकाशक, सस्ती ग्रंथमाला, दिल्ली, पृष्ठ ३१३

मुक्ति का मार्ग

प्रवचनकार – यह तो सर्वमान्य एवं सर्वानुभूत तथ्य है कि संसार में सब प्राणी दु:खी हैं और सब दु:ख से मुक्ति चाहते हैं, तदर्थ यत्न भी करते हैं; पर उस मुक्ति का सही मार्ग पता न होने से उनका किया गया सारा ही प्रयत्न व्यर्थ जाता है। अत: मूलभूत प्रश्न तो यह है कि वास्तविक मुक्ति का मार्ग क्या है ?

मुक्ति का मार्ग क्या है ? इस प्रश्न के पूर्व वास्तविक मुक्ति क्या है – इस समस्या का समाधान अपेक्षित है। मुक्ति का आशय दु:खों से पूर्णत: मुक्ति से है। दु:ख आकुलतारूप हैं, अत: मुक्ति पूर्ण निराकुल होना चाहिए। जहाँ रंचमात्र भी आकुलता रहे, वह परिपूर्ण सुख नहीं अर्थात् मुक्ति नहीं है।

मुक्ति का मार्ग क्या है ? इसका निरूपण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं –

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति ।।२०।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। प्रत्येक जीव को इसका सेवन यथाशक्ति करना चाहिए।

अत: यह तो निश्चित हुआ कि सम्यग्दर्शन अर्थात् सच्ची श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान अर्थात् सच्चा ज्ञान और सम्यक्चारित्र अर्थात् सच्चा चारित्र – तीनों की एकता ही सच्चा मुक्ति का मार्ग है। पर प्रश्न उठता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र क्या हैं ?

निश्चय से तो तीनों आत्मरूप ही हैं अर्थात् आत्मा की शुद्ध पर्यायें ही हैं। पर-पदार्थों से भिन्न अपनी आत्मा का वास्तविक स्वरूप स्वसन्मुख होकर समझकर उसमें आत्मपने की श्रद्धा सम्यग्दर्शन, पर-पदार्थों से भिन्न अपनी आत्मा की तथा पर-पदार्थों की स्वसन्मुख होकर यथार्थ जानकारी सम्यग्ज्ञान और पर-पदार्थों एवं पर-भावों से भिन्न अपने ज्ञान-स्वभावी आत्मस्वरूप में लीन होते जाना ही सम्यक्चारित्र है।

इनका विशेष खुलासा करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं –

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताऽभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ।।२२।।

विपरीत मान्यता से रहित जीवादिक तत्त्वार्थों का श्रद्धान (प्रतीति) करना ही सम्यग्दर्शन है। इसे प्राप्त करने का नित्य प्रयत्न करना चाहिए; क्योंकि वह आत्मरूप ही है।

हमें सबसे पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए; क्योंकि इसके प्राप्त किये बिना मोक्षमार्ग का आरम्भ ही नहीं होता है। कहा भी है –

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ।।२१।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – इन तीनों में सबसे पहले सम्यग्दर्शन को पूर्ण प्रयत्न करके प्राप्त करना चाहिए; क्योंकि इसके होने पर, ज्ञान सम्यग्ज्ञानरूप और चारित्र सम्यक्चारित्ररूप परिणत होता है।

सम्यग्दर्शन के बिना समस्त ज्ञान अज्ञान और समस्त महाव्रतादिरूप शुभाचरण मिथ्याचारित्ररूप ही रहता है।

मुमुक्षु – यह सम्यग्दर्शन प्राप्त कैसे होता है ?

प्रवचनकार – सर्वप्रथम तत्त्वाभ्यास से सप्त तत्त्व का यथार्थ स्वरूप समझने का तथा परपदार्थ और परभावों में परबुद्धि और उनसे भिन्न अपने आत्मा में आत्मबुद्धिपूर्वक त्रिकाली आत्मा के सन्मुख होकर आत्मानुभूति प्राप्त करने का उद्यम करना ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का उपाय है।

प्रश्नकार – और सम्यग्ज्ञान ....?

प्रवचनकार –

कर्तव्योऽध्यवसाय: सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ।।३५।।

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित एवं अनेकान्तात्मक प्रयोजनभूत तत्त्व की सही जानकारी ही सम्यग्ज्ञान है। इस सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने का भी सदा प्रयत्न करना चाहिए।

जिज्ञासु – संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय किसे कहते हैं ?

प्रवचनकार – परस्पर विरुद्ध अनेक कोटि को स्पर्श करनेवाले ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे – शुभराग पुण्य है या धर्म अथवा यह सीप है या चाँदी।

विपर्यय – विपरीत एक कोटि के निश्चय करनेवाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जैसे – शुभराग को धर्म मानना, सीप को चाँदी जान लेना।

अनध्यवसाय – 'यह क्या है' या 'कुछ है' – केवल इतना अरुचि और अनिर्णयपूर्वक जानने को अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे – आत्मा कुछ होगा, रास्ते में चलते हुए किसी मुलायम पदार्थ के स्पर्श से यह जानना कि कुछ है।

जिज्ञासु – अब सम्यक्चारित्र के लिए भी बताइये।

प्रवचनकार –

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्।।३९।।

समस्त सावद्य योग से रहित, शुभाशुभभावरूप कषायभाव से विमुक्त, जगत से उदासीन रूप निर्मल आत्मलीनता ही सम्यक्चारित्र है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय भी कहते हैं और यही मुक्ति का मार्ग है।

शंकाकार – तो क्या रत्नत्रय धारण करने से मुक्ति की ही प्राप्ति होगी, स्वर्गादिक की नहीं ?

प्रवचनकार – भाई ! स्वर्गादिक तो संसार है, जो मुक्ति का मार्ग है, वही संसार का मार्ग कैसे हो सकता है ? स्वर्गादिक की प्राप्ति तो मुक्ति-मार्ग के पथिक को होनेवाले हेयरूप शुभभाव से देवायु आदि पुण्य का बंध होने पर सहज ही हो जाती है। रत्नत्रय तो मुक्ति-मार्ग है, बंधन का मार्ग नहीं।

शंकाकार – तो फिर रत्नत्रय के धारी मुनिराज स्वर्गादिक क्यों जाते हैं ?

प्रवचनकार – रत्नत्रय तो मुक्ति का ही कारण है, पर रत्नत्रयधारी मुनिवरों के जो रागांश है, वही बंध का कारण है। शुभभावरूप अपराध के फल से ही मुनिवर स्वर्ग में जाते हैं।

शंकाकार – शुभोपयोग को अपराध कहते हो ?

प्रवचनकार – सुनो भाई ! मैं थोड़े ही कहता हूँ। आचार्य अमृतचन्द्र ने स्वयं लिखा है –

ननु कथमेवं सिद्धयति देवायुः प्रभृति सत्प्रकृतिबन्धः।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम्।।२१९।।

यदि रत्नत्रय बंध का कारण नहीं है तो फिर शंका उठती है कि रत्नत्रयधारी मुनिवरों के देवायु आदि सत्प्रकृतियों का बंध कैसे होता है ?

उक्त प्रश्न के उत्तर में आगे लिखते हैं –

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः।।२२०।।

रत्नत्रय धर्म निर्वाण का ही कारण है, अन्य स्वर्गादिक का नहीं। मुनिवरों को जो स्वर्गादिक के कारण पुण्य का आस्रव होता है, उसमें शुभोपयोग का ही अपराध है।

शंकाकार – उन मुनिराजों के रत्नत्रय भी तो था, फिर उन्हें बंध क्यों हुआ ?

प्रवचनकार – जितने अंशों में रत्नत्रय है, उतने अंशों में अबंध है। जितने अंशों में रागादिक है, उतने अंशों में बंध है। कहा भी है –

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति।।२१२।।
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति।।२१३।।
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति।।२१४।।

इस आत्मा के जिस अंश में सम्यग्दर्शन है, उस अंश (पर्याय) से बंध नहीं है तथा जिस अंश से राग है, उस अंश से बंध होता है। जिस अंश से इसके ज्ञान है, उस अंश से बंध नहीं है और जिस अंश से राग है, उस अंश से बंध होता है। जिस अंश से इसके चारित्र है, उस अंश से बंध नहीं है और जिस अंश से राग है, उस अंश से बंध होता है।

अतः यदि हमें बंध का अभाव करना है अर्थात् दुःख मेटना है तो रत्नत्रयरूप परिणमन करना चाहिए। यही एक मात्र सांसारिक दुःखों से छूटने के लिए सच्चा मुक्ति का मार्ग है।

प्रश्न –

१. मुक्ति क्या है और मुक्ति का मार्ग (मोक्षमार्ग) किसे कहते हैं ?
२. निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र की परिभाषाएँ दीजिए ?
३. सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का उपाय क्या है ?
४. संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय की परिभाषाएँ दीजिए ?
५. रत्नत्रय स्वर्गादिक का कारण क्यों नहीं है ? सतर्क उत्तर दीजिये ?

पाठ ८

निश्चय और व्यवहार

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी

(व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व)

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के पिता श्री जोगीदासजी खण्डेलवाल दिगम्बर जैन गोदीका गोत्रज थे और माँ थीं रंभाबाई। वे विवाहित थे। उनके दो पुत्र थे – हरिश्चन्द्र और गुमानीराम। गुमानीराम महान प्रतिभाशाली और उनके समान ही क्रान्तिकारी थे। यद्यपि उनका अधिकांश जीवन जयपुर में ही बीता, किन्तु उन्हें अपनी आजीविका के लिए कुछ समय सिंघाणा अवश्य रहना पड़ा था। वे वहाँ दिल्ली के एक साहूकार के यहाँ कार्य करते थे।

परम्परागत मान्यतानुसार उनकी आयु यद्यपि २७ वर्ष मानी जाती है; किन्तु उनकी साहित्यसाधना, ज्ञान व नवीनतम प्राप्त उल्लेखों व प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित हो चुका है कि वे ४७ वर्ष तक जीवित रहे। उनकी मृत्यु तिथि वि.सं. १८२३-२४ लगभग निश्चित है, अत: उनका जन्म वि. सं. १९७६-७७ में होना चाहिए।

उनकी सामान्य शिक्षा जयपुर की एक आध्यात्मिक (तेरापंथ) सैली में हुई; परन्तु अगाध विद्वत्ता केवल अपने कठिन श्रम एवं प्रतिभा के बल पर ही उन्होंने प्राप्त की, उसे बाँटा भी दिल खोलकर। वे प्रतिभा सम्पन्न, मेधावी और अध्ययनशील थे। प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी के अतिरिक्त उन्हें कन्नड़ भाषा का ज्ञान था। आपके बारे में संवत् १८२१ में ब्र. राजमल 'इन्द्रध्वज विधान महोत्सव

पत्रिका' में लिखते हैं – ''ऐसे पुरुष महंत बुद्धि का धारक ई काल विषै होना दुर्लभ है। तातैं यांसू मिलें सर्व संदेह दूरि होइ है।''

आप स्वयं मोक्षमार्गप्रकाशक में अपने अध्ययन के बारे में लिखते हैं – ''टीकासहित समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि शास्त्र और क्षपणासार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अष्टपाहुड़, आत्मानुशासन आदि शास्त्र और श्रावक-मुनि के आचार के प्ररूपक अनेक शास्त्र और सुष्ठुकथासहित पुराणादि शास्त्र – इत्यादि अनेक शास्त्र हैं, उनमें हमारे बुद्धि अनुसार अभ्यास वर्तता है।''

उन्होंने अपने जीवन में छोटी-बड़ी बारह रचनाएँ लिखीं, जिनका परिमाण करीब एक लाख श्लोक प्रमाण है, पाँच हजार पृष्ठ के करीब। इनमें कुछ तो लोकप्रिय ग्रंथों की विशाल प्रामाणिक टीकाएँ हैं और कुछ हैं स्वतंत्र रचनाएँ। वे गद्य और पद्य दोनों रूपों में पाई जाती हैं। वे कालक्रमानुसार निम्नलिखित हैं :-

(१) रहस्यपूर्ण चिट्ठी (वि.सं. १८११)
(२) गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषा टीका
(३) गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषा टीका
(४) अर्थसंदृष्टि अधिकार
(५) लब्धिसार भाषा टीका
(६) क्षपणासार भाषा टीका
[(२) से (६) तक] *सम्यग्ज्ञान चंद्रिका (वि. सं. १८१८)
(७) गोम्मटसार पूजा
(८) त्रिलोकसार भाषा टीका
(९) समवशरण रचना वर्णन
(१०) मोक्षमार्गप्रकाशक (अपूर्ण)
(११) आत्मानुशासन भाषा टीका
(१२) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषा टीका (अपूर्ण)
इसे पण्डित दौलतराम कासलीवाल ने वि.सं. १८२७ में पूर्ण किया।

* गोम्मटसार जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड भाषा टीका, लब्धिसार व क्षपणासार भाषा टीका एवं अर्थसंदृष्टि अधिकार को 'सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका' भी कहते हैं।

उनकी गद्य शैली परिमार्जित, प्रौढ़ एवं सहज बोधगम्य है। उनकी शैली का सुन्दरतम रूप उनके मौलिक ग्रंथ मोक्षमार्गप्रकाशक में देखने को मिलता है। उनकी भाषा मूलरूप में ब्रज होते हुए भी उसमें खड़ी बोली का खड़ापन भी है और साथ ही स्थानीय रंगत भी। उनकी भाषा उनके भावों को वहन करने में पूर्ण समर्थ व परिमार्जित है।

आपके संबंध में विशेष जानकारी के लिए ''पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व'' नामक ग्रंथ देखना चाहिए। प्रस्तुत अंश मोक्षमार्गप्रकाशक के सप्तम अधिकार के आधार पर लिखा गया है। निश्चय-व्यवहार की विशेष जानकारी के लिए मोक्षमार्गप्रकाशक के सप्तम अधिकार का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

निश्चय और व्यवहार

गुमानीराम – पिताजी ! कल आपने कहा था कि रत्नत्रय ही दु:ख से मुक्ति का मार्ग (मोक्षमार्ग) है। मोक्षमार्ग तो दो हैं न, निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग।

पं. टोडरमलजी – नहीं बेटा ! मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का कथन (वर्णन) दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कहा जाये, वह निश्चय मोक्षमार्ग है और जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाये, वह व्यवहार मोक्षमार्ग है। क्योंकि निश्चय और व्यवहार का सब जगह यही लक्षण है :-

''सच्चे निरूपण को निश्चय कहते हैं और उपचरित निरूपण को व्यवहार।''

समयसार में कहा है :-

व्यवहार अभूतार्थ (असत्यार्थ) है, क्योंकि वह सत्य स्वरूप का निरूपण नहीं करता है। निश्चय भूतार्थ (सत्यार्थ) है, क्योंकि वह वस्तुस्वरूप का सच्चा निरूपण करता है।

गुमानीराम – मैं तो ऐसा जानता हूँ कि सिद्धसमान शुद्ध आत्मा का अनुभव करना निश्चय है और व्रत, शील, संयमादि प्रवृत्ति व्यवहार है।

पं. टोडरमलजी – यह ठीक नहीं; क्योंकि ''किसी द्रव्य-भाव का नाम निश्चय और किसी का व्यवहार'' - ऐसा नहीं है, किन्तु ''एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप में ही वर्णन करना निश्चय नय है और उपचार से उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप वर्णन करना व्यवहार है।'' जैसे - मिट्टी के घड़े को मिट्टी का कहना निश्चय और घी का संयोग देखकर उपचार से उसे घी का घड़ा कहना व्यवहार है।

गुमानीराम – समयसार में तो शुद्धात्मा के अनुभव को निश्चय और व्रत, शील, संयमादि को व्यवहार कहा है।

पं. टोडरमलजी – शुद्धात्मा का अनुभव सच्चा मोक्षमार्ग है, अत: उसे निश्चय मोक्षमार्ग कहा है। तथा व्रत, तप आदि मोक्षमार्ग नहीं हैं, इन्हें निमित्तादिक की अपेक्षा उपचार से मोक्षमार्ग कहा है; अत: इन्हें व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं।

अत: निश्चय नय से जो निरूपण किया हो, उसे सच्चा (सत्यार्थ) मानकर उसका श्रद्धान करना और व्यवहार नय से जो निरूपण किया हो, उसको असत्य (असत्यार्थ) मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।

गुमानीराम – श्रद्धान तो निश्चय का रखें और प्रवृत्ति व्यवहाररूप।

पं. टोडरमलजी – नहीं बेटा ! निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान रखना चाहिए। और प्रवृत्ति में तो नय का प्रयोजन ही नहीं है। प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है। जिस द्रव्य की परिणति हो, उसको उसी की कहनेवाला निश्चयनय है, और उसे ही अन्य द्रव्य की कहनेवाला व्यवहारनय है। अत: यह श्रद्धान करना कि निश्चयनय का कथन सत्यार्थ है और व्यवहारनय का कथन उपचरित होने से असत्यार्थ है।

गुमानीराम – आपने ऐसा क्यों कहा कि निश्चयनय का श्रद्धान करना और व्यवहार नय का श्रद्धान छोड़ना ?

पं. टोडरमलजी – सुनो ! व्यवहारनय स्वद्रव्य परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, इसप्रकार के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; अत: व्यवहारनय त्याग करने योग्य है।

तथा निश्चय नय उन्हीं को यथावत् निरूपित करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है, ऐसे श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; अत: उसका श्रद्धान करना।

गुमानीराम – तो फिर जैन शास्त्रों में दोनों नयों को ग्रहण करना क्यों कहा है ?

पं. टोडरमलजी – जहाँ निश्चय नय का कथन हो उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही हैं' – ऐसा मानना; जहाँ व्यवहार की मुख्यता से कथन हो, उसे 'ऐसा है नहीं, निमित्तादिक की अपेक्षा उपचार से कथन किया है – ऐसा मानना ही दोनों नयों का ग्रहण है।

गुमानीराम – यदि व्यवहार को हेय कहोगे तो लोग व्रत, शील, संयमादि को छोड़ देंगे।

पं. टोडरमलजी – कुछ व्रत, शील, संयमादि का नाम तो व्यवहार है नहीं, इनको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है। इनको सच्चा मोक्षमार्ग मानना तो छोड़ना ही चाहिए। तथा यदि व्रतादिक को छोड़ोगे तो क्या हिंसादि रूप प्रवर्तोगे, तो फिर और भी बुरा होगा। अत: व्रतादिक को छोड़ना भी ठीक नहीं और उन्हें सच्चा मोक्षमार्ग मानना भी ठीक नहीं।

गुमानीराम – यदि ऐसा है तो फिर जिनवाणी में व्यवहार का कथन ही क्यों किया ?

पं. टोडरमलजी – जिसप्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना समझाया नहीं जा सकता है, उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता है। अत: जिनवाणी में व्यवहार का कथन आया है। जैसे म्लेच्छ को समझाने के लिए भले ही म्लेच्छ भाषा का आश्रय लेना पड़े, पर म्लेच्छ हो जाना तो ठीक नहीं; उसीप्रकार परमार्थ का प्रतिपादक होने से भले ही उसका कथन हो, पर वह अनुसरण करने योग्य नहीं।

गुमानीराम – व्यवहार निश्चय का प्रतिपादक कैसे है ?

पं. टोडरमलजी – जैसे हिमालय पर्वत से निकल कर बंगाल की खाड़ी में गिरनेवाली सैकड़ों मील लम्बी गंगा की लम्बाई को तो क्या चौड़ाई को भी आँख से नहीं देखा जा सकता है, अत: उसकी लम्बाई और चौड़ाई और बहाव के मोड़ों को जानने के लिए हमें नक्शे का सहारा लेना पड़ता है। पर जो गंगा नक्शे में

है, वह वास्तविक नहीं है; उससे तो मात्र गंगा को समझा जा सकता है, उससे कोई पथिक प्यास नहीं बुझा सकता है। प्यास बुझाने के लिए असली गंगा के किनारे ही जाना होगा; उसीप्रकार व्यवहार द्वारा कथित वचन नक्शे की गंगा के समान हैं, उनसे समझा जा सकता है; पर उनके आश्रय से आत्मानुभूति प्राप्त नहीं की जा सकती है। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए तो निश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मा का ही आश्रय लेना आवश्यक है। अत: व्यवहारनय तो मात्र जानने (समझने) के लिए प्रयोजनवान है।

प्रश्न –

१. मुक्ति का मार्ग (मोक्षमार्ग) क्या है ? क्या वह दो प्रकार का है ? स्पष्ट कीजिये ?
२. निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग में क्या अन्तर है ? स्पष्ट कीजिये ?
३. निश्चय और व्यवहार की परिभाषायें दीजिये ?
४. निम्न उक्ति में क्या दोष है ? समझाइये। ''सिद्ध समान शुद्धात्मा का अनुभव करना निश्चय और व्रत-शील-संयमादि प्रवृत्ति व्यवहार है।''
५. जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश दिया ही क्यों है ?
६. दोनों नयों का ग्रहण करने से क्या आशय है ?
७. व्यवहार निश्चय का प्रतिपादक कैसे है?

पूजनादिक कार्यों में उपदेश तो यह था कि –'सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ दोषाय नालं' बहुत पुण्यसमूह में पाप का अंश दोष के अर्थ नहीं है। इस छल द्वारा पूजा-प्रभावनादि कार्यों में रात्रि में दीपक से व अनन्तकायादिक के संग्रह द्वारा व अयत्नाचार प्रवृत्ति से हिंसादिरूप पाप तो बहुत उत्पन्न करते हैं और स्तुति, भक्ति आदि शुभ परिणामों में नहीं प्रवर्तते व थोड़े प्रवर्तते हैं; सो वहाँ नुकसान बहुत, नफा थोड़ा या कुछ नहीं। ऐसे कार्य करने में तो बुरा ही दिखना होता है।

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ।।५८।।

(बृहत्स्वयंभू स्तोत्र : आचार्य समन्तभद्र)
मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ १९०

पाठ ८

दशलक्षण महापर्व

जिनेश – कहो भाई विनोद ! मन्दिर चलोगे ?

विनोद – नहीं भाई ! आज तो सिनेमा जाने का विचार है।

जिनेश – क्यों ?

विनोद – क्योंकि आज आत्मा में शान्ति नहीं है, कुछ मनोविनोद हो जायेगा।

जिनेश – वाह भाई ! सिनेमा में शान्ति खोजने चले हो ? सिनेमा तो राग-द्वेष (अशांति) का ही वर्द्धक है और अब तो दशलक्षण महापर्व प्रारंभ हो गया है। ये दिन तो धर्म-आराधना के हैं। इन दिनों सब लोग आत्मचिंतन, पूजन-पाठ, व्रत-उपवास आदि करते हैं एवं पूरा दिन स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा आदि में बिताते हैं।

वैसे तो प्रत्येक धार्मिक पर्व का प्रयोजन आत्मा में वीतराग भाव की वृद्धि करने का ही होता है, किन्तु इस पर्व का संबंध विशेष रूप से आत्म-गुणों की आराधना से है। अत: यह वीतरागी पर्व संयम और साधना का पर्व है।

पर्व अर्थात् मंगल काल, पवित्र अवसर। वास्तव में तो अपने आत्म-स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक वीतरागी दशा का प्रकट होना ही यथार्थ पर्व है; क्योंकि वही आत्मा का मंगलकारी है और पवित्र अवसर है।

उत्तमक्षमादि दशलक्षण धर्म से संबंधित होने से इसे दशलक्षण महापर्व कहते हैं।

विनोद – यह दशलक्षण धर्म क्या है ?

जिनेश – आत्मस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक चारित्र (धर्म) की दश प्रकार से आराधना करना ही दशलक्षण धर्म है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है :-

''उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्म: ।।९।।६।।''

अर्थात् उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन और उत्तम ब्रह्मचर्य – ये धर्म के दशप्रकार हैं।

विनोद – इन दश धर्मों को थोड़ा स्पष्ट करके समझा सकते हो ?

जिनेश – क्यों नहीं ? सुनो।

अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय के अभाव में ज्ञानी मुनिवरों को जो विशिष्ट चारित्र की शुद्ध परिणति होती है, निश्चय से उसे उत्तम क्षमा मार्दव आदि दश धर्म कहते हैं और उस भूमिका में मुनिवरों को सहज रूप से जो क्षमादि रूप शुभभाव होते हैं, उन्हें व्यवहार से उत्तम क्षमादि दश धर्म कहते हैं, जो कि पुण्यरूप हैं। 'उत्तम' शब्द 'निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक' के अर्थ में आता है।

निश्चय से तो त्रैकालिक क्षमास्वभावी आत्मा के आश्रय से अनंतानुबंधी आदि तीन प्रकार के क्रोध के त्यागरूप शुद्धि ही उत्तम क्षमा है। निश्चय क्षमा के साथ होनेवाली निंदा और शरीरघात आदि अनेक प्रतिकूल संयोगों के आ पड़ने पर भी क्रोधरूप अशुभभाव न होकर शुभभावरूप क्षमा होना व्यवहार से उत्तम क्षमा है।

इसीप्रकार निश्चय से तो त्रैकालिक मार्दवस्वभावी आत्मा के आश्रय से अनंतानुबंधी आदि तीन प्रकार के मान के त्यागरूप शुद्धि ही उत्तम मार्दव धर्म है तथा निश्चय मार्दव के साथ होनेवाले जाति आदि के लक्ष्य से उत्पन्न आठ मदरूप अशुभभाव न होकर निरभिमानरूप शुभभाव होना व्यवहार से उत्तम मार्दव धर्म है।

विनोद – और आर्जव ?

जिनेश – निश्चय से त्रैकालिक आर्जवस्वभावी आत्मा के आश्रय से तीन प्रकार के माया के त्यागरूप शुद्धि का होना उत्तम आर्जव धर्म है तथा निश्चय आर्जव के साथ ही कपटरूप अशुभभाव न होकर शुभभावरूप सरलता का होना व्यवहार से उत्तम आर्जव धर्म है।

इसीप्रकार त्रैकालिक शौचस्वभावी आत्मा के आश्रय से तीन प्रकार के लोभ के त्यागरूप शुद्धि निश्चय से उत्तम शौच धर्म है और निश्चय शौच के साथ लोभरूप अशुभभाव न होकर शुभ भावरूप निर्लोभता का होना व्यवहार से उत्तम शौच धर्म है।

विनोद – और सत्य बोलना तो सत्य धर्म है ही ?

जिनेश – अरे भाई ! वाणी तो पुद्‌गल की पर्याय है, उसमें धर्म कैसा ? त्रैकालिक ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से जो तीन कषाय के अभावरूप शुद्ध परिणति है, वही निश्चय से उत्तम सत्य धर्म है और निश्चय सत्य धर्म के साथ होनेवाला सत्य वचन बोलनेरूप शुभभाव व्यवहार से उत्तम सत्य धर्म है।

इसीप्रकार त्रैकालिक संयमस्वभावी आत्मा के आश्रय से होनेवाली तीन कषाय के अभावरूप शुद्ध परिणति निश्चय से उत्तम संयम धर्म है और निश्चय संयम के साथ होनेवाली मुनि भूमिकानुसार हिंसादि से पूर्ण विरति और इन्द्रियनिग्रह व्यवहार से उत्तम संयम धर्म है।

विनोद – भाई ! तुम तो बहुत अच्छा समझाते हो, समय हो तो थोड़ा विस्तार से कहो ?

जिनेश – अभी समय कम है, प्रवचन का समय हो रहा है। प्रतिदिन शाम को इन्हीं दश धर्मों पर प्रवचन होते हैं, अत: विस्तार से वहाँ सुनना। अभी शेष तप, त्याग आदि को भी संक्षेप में बताना है।

त्रैकालिक ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से तीन कषाय के अभावरूप शुद्धि निश्चय से उत्तम तप धर्म है तथा उसके साथ होनेवाला अनशनादि संबंधी शुभभाव व्यवहार से उत्तम तप धर्म है।

त्रैकालिक ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से तीन कषाय के अभावरूप शुद्धि निश्चय से उत्तम त्याग धर्म है और उसके साथ होनेवाला योग्य पात्रों को दानादि देने का शुभभाव व्यवहार से उत्तम त्याग धर्म है।

इसीप्रकार त्रैकालिक ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से तीन कषाय के अभावरूप शुद्धि निश्चय से उत्तम आकिंचन धर्म है और उसके साथ होनेवाला परिग्रह का त्यागरूप शुभभाव व्यवहार से उत्तम आकिंचन धर्म है।

आनंदस्वभावी परम ब्रह्म त्रैकालिक आत्मा में चरना, रमना अर्थात् लीन होनेरूप शुद्धि निश्चय से उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है और उसके साथ होनेवाला स्त्री संगमादि का त्यागरूप शुभभाव व्यवहार से उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है।

विनोद – निश्चय और व्यवहार धर्म में क्या अंतर है ?

जिनेश – जो उत्तम क्षमादि शुद्ध भावरूप निश्चय धर्म है, वह संवर निर्जरा रूप होने से मुक्ति का कारण है और जो क्षमादिरूप शुभभाव व्यवहार धर्म है, वह पुण्य बंध का कारण है।

विनोद – उक्त निश्चय-व्यवहाररूप उत्तम क्षमादि दश धर्म तो मुनिवरों के लिए हैं, पर हमारे लिए ....?

जिनेश – भाई ! धर्म तो सबके लिए एक ही है। यह बात अलग है कि मुनिराज अपने उग्र पुरुषार्थ द्वारा अनन्तानुबंधी आदि तीन कषाय के अभावरूप विशेष शुद्धि प्राप्त कर लेते हैं और गृहस्थ अपनी भूमिकानुसार दो या एक कषाय के अभावरूप अल्पशुद्धि प्राप्त कर पाते हैं।

प्रश्न –

१. दशलक्षण धर्म क्या है ? वे कितने प्रकार के होते हैं ? नाम सहित गिनाइये।
२. निश्चय और व्यवहार धर्म में क्या अंतर है ? स्पष्ट कीजिये।
३. निम्नलिखित में से किन्हीं तीन धर्मों को निश्चय और व्यवहार की संधिपूर्वक स्पष्ट कीजिये :-
उत्तम क्षमा, उत्तम सत्य, उत्तम तप, उत्तम आकिंचन और उत्तम ब्रह्मचर्य।

पाठ १०

बलभद्र राम

छात्र – क्या राम और हनुमान भगवान नहीं हैं ?

अध्यापक – कौन कहता है कि वे भगवान नहीं है ? उन्होंने मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र से मुक्तिपद प्राप्त किया है व सिद्ध भगवान के रूप में शाश्वत विराजमान हैं। हम निर्वाणकाण्ड भाषा में बोलते हैं :-

राम हणू सुग्रीव सुडील,
गवगवाख्य नील महानील।
कोड़ि निन्याणव मुक्ति पयान,
तुंगीगिरि वंदों धरि ध्यान।।

छात्र – तो क्या सुग्रीव आदि बंदर एवं नल नील आदि रीछ भी मोक्ष गये हैं ? वे भी भगवान बन गये हैं ?

अध्यापक – हनुमान-सुग्रीव बन्दर न थे और न ही नल-नील रीछ। वे तो सर्वांग-सुन्दर महापुरुष थे, जिन्होंने अपने जीवन में आत्मसाधना कर वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त की थी।

छात्र – तो इन्हें फिर वानरादि क्यों कहा जाता है ?

अध्यापक – उनके तो वंश का नाम वानरादि वंश था। इसीप्रकार रावण कोई राक्षस थोड़े ही था। वह तो राक्षसवंशी त्रिखंडी राजा था।

छात्र – लोग कहते हैं – उसके दश मुख थे। क्या यह बात सच है ?

अध्यापक – क्या दश मुख का भी कोई आदमी होता है ? उसका नाम दशमुख अवश्य था। उसका कारण यह था कि जब वह बालक था और पालने में लेटा था, उसके गले में एक नौ मणियों का हार पड़ा था। उनमें उसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, अत: दशमुख दिखाई देते थे, इसकारण लोग उसे दशमुख कहने लगे।

छात्र – तो राम का जन्म कहाँ हुआ था ?

अध्यापक – बालक राम का जन्म अयोध्या के राजा दशरथ की रानी कौशल्या के गर्भ से हुआ था। वही बालक राम आगे चलकर आत्मसाधना द्वारा भगवान राम बना।

राजा दशरथ की चार रानियाँ थीं, जिनमें कौशल्या से राम का, सुमित्रा से लक्ष्मण का, कैकेयी से भरत का और सुप्रभा से शत्रुघ्न का जन्म हुआ।

छात्र – अच्छा तो राम चार भाई थे। और .... ?

अध्यापक – राम की शादी राजा जनक की पुत्री सीता से हुई थी। एकबार दशरथ ने सोचा कि मेरा बड़ा पुत्र राम राज्य-भार सँभालने के योग्य हो गया, अत: उसे राज्य-भार सौंपकर मैं आत्मसाधना में लीन हो जाऊँ। अत: उन्होंने राम के राज्याभिषेक की घोषणा करवा दी। पर .....

छात्र – पर क्या ?

अध्यापक – रानी कैकेयी चाहती थी कि मेरा पुत्र भरत राजा बने। अत: उसने राजा से दो वरदान माँगे कि राम को चौदह वर्ष का वनवास हो और भरत को राज्य प्राप्त हो। राजा को उक्त बात सुनकर दु:ख तो बहुत हुआ, पर वे वचनबद्ध थे और राम को वन जाना पड़ा। साथ में सीता और भाई लक्ष्मण भी गये।

छात्र – वनवास में तो बड़ी आपत्तियाँ झेलनी पड़ी होंगी ?

अध्यापक – छोटी-मोटी विपत्तियों की परवाह तो राम लक्ष्मण जैसे वीर पुरुष क्या करते, पर 'सीताहरण' जैसी घटना ने तो उन्हें भी एकबार विचलित कर दिया था।

छात्र – किसने किया था सीता का हरण ?

अध्यापक – लंका के राजा रावण ने। वह उससमय का अर्द्धचक्री राजा था। हनुमान, सुग्रीव आदि उसके अन्तर्गत मण्डलेश्वर राजा थे, पर उसके इस अधम कुकृत्य से उनका मन उसकी तरफ से हट गया। यहाँ तक कि उसके छोटे भाई विभीषण तक ने उसको बहुत समझाया, पर उसकी तो होनहार ही खोटी थी, अत: उसने एक की भी न सुनी। आखिर विभीषण को भी उसका दरबार छोड़ना ही पड़ा।

छात्र – फिर क्या हुआ ?

अध्यापक – राम और लक्ष्मण ने लंका पर चढ़ाई कर दी। विभीषण, सुग्रीव, नल, नील, हनुमान आदि मण्डलेश्वर राजाओं ने राम-लक्ष्मण का साथ दिया और दुराचारी रावण की जो दुर्गति होनी थी, हुई अर्थात् रावण मारा गया और राम-लक्ष्मण की विजय हुई। सीता राम को वापिस प्राप्त हो गयी। चौदह वर्ष समाप्त हुए और राम-लक्ष्मण अयोध्या वापिस आकर राज्य करने लगे।

छात्र – चलो ठीक रहा, संकट टल गया। फिर तो सीता और राम आनंद से भोगोपभोग भोगते रहे होंगे ?

अध्यापक – भोगों में भी आनन्द होता है क्या ? वे तो सदा विपत्ति के घर कहे गये हैं। जबतक आत्मा में मोह-राग-द्वेष है, तबतक संकट ही संकट है। सीता और राम कुछ दिन भी शान्ति से न रह पाये थे कि लोकापवाद के कारण गर्भवती सीता को राम ने निर्वासित कर दिया। भयंकर अटवी में यदि पुण्डरीकपुर का राजा वज्रजंघ उसे धर्म-बहिन बनाकर आश्रय न देता तो ....

छात्र – फिर .... ?

अध्यापक – पुण्डरीकपुर में ही सीता ने लव और कुश दोनों जुड़वाँ भाइयों को जन्म दिया। वे दोनों भाई राम-लक्ष्मण जैसे ही वीर, धीर और प्रतापी थे। उनका राम और लक्ष्मण से भी युद्ध हुआ था।

छात्र – कौन जीता ?

अध्यापक – दोनों पक्ष ही अजेय रहे। हार-जीत का अन्तिम निर्णय होने के पूर्व ही उन्हें आपस में पता चल गया कि यह युद्ध तो पिता-पुत्र का है, अत: युद्धस्थल स्नेह-सम्मेलन में बदल गया।

छात्र – चलो अब तो सीता के दु:खों का अन्त हुआ?

अध्यापक – राग की भूमिका में दु:खों का अन्त हो ही नहीं सकता। दु:ख के अन्त का उपाय तो एकमात्र वीतरागता ही है।

छात्र – फिर क्या हुआ ?

अध्यापक – राम ने बिना अग्नि-परीक्षा के सीता को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया।

छात्र – फिर....?

अध्यापक – महासती सीता ने अग्नि-प्रवेश करके अपनी पवित्रता प्रकट कर दी। भयंकर अग्नि की ज्वाला भी शीतल शान्त जलरूप परिणमित हो गई। शील की महिमा से देवों द्वारा यह चमत्कार किया गया।

छात्र – फिर तो राम ने सीता को स्वीकार कर लिया होगा ?

अध्यापक – हाँ, राम तो सीता को स्वीकार करने को तैयार हो गये थे, पर सीता ने गृहस्थी की आग में जलना स्वीकार नहीं किया; क्योंकि उसने अच्छी तरह जान लिया था कि भोगों में सुख नहीं है; सुख प्राप्ति का उपाय तो मात्र वीतरागी मार्ग ही है। अत: वे आर्यिका के व्रत धारण कर आत्मसाधना में रत हो गईं।

छात्र – और राम.......... ?

अध्यापक – राम भी कुछ काल बाद संसार की असारता देख वीतरागी साधु हो गये और आत्मसाधना की चरम स्थिति पर पहुँच कर राग-द्वेष का नाश कर पूर्णज्ञानी (सर्वज्ञ) बन गये।

छात्र – यह रामकथा तो बड़ी ही रोचक एवं शिक्षाप्रद है। इसमें तो बहुत आनन्द आया और अनेक नई बातें भी समझने को मिलीं। जरा विस्तार से समझाइए न गुरुजी !

अध्यापक – विस्तार से सुनाने का समय यहाँ कहाँ है ? यदि विस्तार से जानना चाहते हो तो तुम्हें रविषेणाचार्य द्वारा लिखित पद्मपुराण का स्वाध्याय करना चाहिए।

छात्र – वह तो संस्कृत भाषा में होगा ?

अध्यापक – हाँ, मूल तो वह संस्कृत भाषा में ही है, पर पण्डित दौलतरामजी कासलीवाल ने उसका हिन्दी अनुवाद भी कर दिया है।

छात्र – वह कहाँ मिलेगा ?

अध्यापक – मंदिरजी में। भारतवर्ष के प्रत्येक जैन मंदिर में पद्मपुराण पाया जाता है और उसे अनेक लोग प्रतिदिन पढ़ते हैं।

प्रश्न –

१. श्री राम की कथा अपने शब्दों में लिखिये ?
२. हनुमान आदि को बंदर और रावणादि को राक्षस क्यों कहा जाता है ?
३. भगवान किसे कहते हैं ? राम और हनुमान भगवान हैं या नहीं ? यदि हाँ, तो कारण दीजिये ?

पाठ ११

समयसार-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टालवा करुणा करी।
सरिता बहावी सुधा तणी प्रभु वीर ! तें संजीवनी।।
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी।
मुनिकुन्द संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्यूं शास्त्र सांथिया अमृते पूर्या,
ग्रन्थाधिराज ! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी।
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी उतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणती।।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तूं छै निश्चयग्रन्थ भंग सघला, व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञानने उदयनी, संधि सहु छेदवा।

साथी साधकनो तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तूं पंथ मुक्ति तणो।।

(वसंततिलका)

सूण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय।
तुं रूचतां जगतनी रुचि आलसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायक देव रीझे।।

(अनुष्टुप्)

बनावुं पत्र कुन्दनना, रत्नोंना अक्षरो लखी।
तथापि कुन्दसूत्रोना अंकाये मूल्य ना कदी।।

समयसार-स्तुति का भावार्थ

हे महावीर ! आपने संसारी जीवों के भाव-मरण (राग-द्वेषरूप परिणमन) को टालने के लिए करुणा करके सच्चा जीवन देनेवाली, तत्त्वज्ञान को समझाने वाली दिव्यध्वनिरूपी अमृत की नदी बहाई थी; उस अमृतवाणीरूपी नदी को सूखती हुई देख कर कृपा करके भावलिंगी सन्त मुनिराज कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार नामक महाशास्त्र रूपी बर्तन में उस जीवन देनेवाली अमृतवाणीरूपी जल को भर लिया।

पूज्य कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार शास्त्र बनाया और आचार्य अमृतचन्द्र ने उस पर आत्मख्याति टीका एवं कलश लिखकर उस पर मंगलीक साँथिया बना दिया। हे महानग्रन्थ समयसार ! तुझ में सारे ब्रह्माण्ड का भाव भरा हुआ है।

हे कुन्दकुन्दाचार्यदेव ! समयसार नामक महाशास्त्र में प्रकट हुई आपकी वाणी शान्त रस से भरपूर है और मुमुक्षु प्राणियों को अंजलि में भरभर कर अमृत रस पिलाती है। जैसे विषपान से उत्पन्न मूर्छा अमृतपान से दूर हो जाती है, उसीप्रकार अनादिकालीन मिथ्यात्व-विषोत्पन्न मूर्छा तेरी अमृतवाणी के पान से शीघ्र ही दूर हो जाती है और विभाव भावों में रमी हुई परिणति स्वभाव की ओर दौड़ने लगती है।

हे समयसार ! तू निश्चयनय का ग्रन्थ है, अत: व्यवहार के समस्त भंगों को भेदनेवाला है और तू ही ज्ञानभाव और कर्मोदयजन्य औपाधिक भावों की संधि को भेदनेवाली प्रज्ञारूपी छैनी है। मुक्ति के मार्ग के साधकों का तू सच्चा साथी है, जगत का सूर्य है और तू ही सच्चा महावीर का संदेश है। संसार दु:ख से दु:खी हृदयों को विश्राम देनेवाले ग्रन्थराज ! मानो तुम मुक्ति के मार्ग ही हो !

हे समयसार ! तुम्हें सुनने से कर्म-रस (अनुभाग बंध) ढीला पड़ जाता है। तुम्हें जान लेने पर ज्ञानी का हृदय जान लिया जाता है। तुम्हारे प्रति रुचि उत्पन्न होते ही सांसारिक विषय-भोगों की रुचि समाप्त हो जाती है। जिस पर तुम रीझ जाते हो, उस पर उसका सम्पूर्ण ज्ञेयों को जानने के स्वभाववाला आत्मा रीझ जाता है। तात्पर्य यह है कि सकल ज्ञेयों का ज्ञायक आत्मा अनुभूति में प्रकट हो जाता है।

यदि तप्त स्वर्ण के पत्र बनाये जावें और उन पर रत्नों के अक्षरों से कुन्दकुन्द के सूत्रों को लिखा जाये तो भी कुन्दकुन्द के सूत्रों का मूल्य नहीं आँका जा सकता है।

प्रश्न -

१. समयसार-स्तुति का सारांश अपने शब्दों में लिखिये।

२. उपर्युक्त स्तुति में जो छन्द तुम्हें सबसे अच्छा लगा हो, उसे अर्थ सहित लिखिये।

शास्त्रों के माध्यम से हम हजारों वर्ष पुराने आचार्यों के सीधे सम्पर्क में आते हैं। हमें उनके अनुभव का लाभ मिलता है। लोकालोक का प्रत्यक्ष ज्ञान तो हमें परमात्मा बनने पर ही प्राप्त हो सकेगा, किन्तु परोक्षरूप से वह हमें जिनवाणी द्वारा प्राप्त हो जाता है। सर्वज्ञ भगवान के इस क्षेत्र-काल में अभाव होने एवं आत्मज्ञानियों की विरलता होने से एक जिनवाणी की ही शरण है।